

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अध्यात्मदर्शन प्रकरण

एकदा तु हिमाच्छन्ने ह्युत्तराखंडमंडने ।
अभयारण्यके ताण्डयशमीकोद्दालकास्तथा ॥ १ ॥
ऋषयः ऐतरेयश्च ब्रह्मविद्या विचक्षणाः ।
तत्त्वजिज्ञासवो ब्रह्मविद्यायाः संगताः समे ॥ २ ॥
तत्त्वचर्चारतानां तु प्रश्न एक उपस्थितः ।
महत्त्वपूर्णः स प्रश्नः सर्वेषां मन आहरत् ॥ ३ ॥

पिप्पलादं पप्रच्छातो महाप्राज्ञमृषीश्वरम् ।

अष्टावक्रो ब्रह्मज्ञानी लोककल्याणहेतवे ॥ ४ ॥

टीका—हिमाच्छादित उत्तराखंड के अभयारण्यक में एक बार ताण्ड्य, शमीक, उद्दालक तथा ऐतरेय आदि ऋषि ब्रह्मविद्या के गहन तत्व पर विचार करने के उद्देश्य से एकत्रित हुए। तत्त्वदर्शन के अनेकानेक प्रसंगों पर विचार करते-करते एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आया। उसकी महत्ता ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। महाप्राज्ञ

१.१२ प्रज्ञोपनिषद्

ऋषि पिप्पलाद से, लोक-कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र ने पूछा ॥ १-४ ॥

व्याख्या—ऋषि धर्मतंत्र के प्रहरी माने जाते हैं, सदैव जागरूक एवं सामयिक मानवी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने व उन्हें जन-जन तक पहुँचाने वाले।

ब्रह्मज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही कुंभ मेलों एवं अन्य पर्वों पर ऋषिगण एकत्र होते व परस्पर परामर्श द्वारा दैनंदिन समस्याओं का हल निकालते थे। सूत-शौनक, शिवजी-काकभुशुंडि, जनक-याज्ञवल्क्य, भारद्वाज-याज्ञवल्क्य संवाद इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं।

ऐसे समागम सत्संग ज्ञान गोष्ठियों में सदा-सदा से महामानवों के कृत्यों आचरण को आधार बनाकर जीवनक्रम की रूपरेखा बनाई जाती रही है। परस्पर चर्चा में मात्र ब्रह्म विद्या के गूढ़ तात्त्विक विवेचन को ही स्थान न देकर ऋषिगण हर ऐसी जिज्ञासा में रुचि लेते थे जो उस समय की परिस्थितियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। भले वे साधारण जनमानस से संबंधित चर्चा क्यों न हो, हर मनीषी उसमें उतनी ही रुचि रखता था, जितनी कि मुक्ति, योग, साधना जैसे विषयों में।

अष्टावक्र उवाच

ईश्वरः भूपतिः साक्षाद् ब्रह्मांडस्य महामुने।

मानवं राजपुत्रं स्वं कर्तुं सर्वगुणान्वितम् ॥ ५ ॥

विभूतीः स्वा अदाद् बीजरूपे सर्वा मुदान्वितः।

सृष्टिसंचालकोऽप्येष श्रेयसा रहितः कथम् ॥ ६ ॥

टीका—ब्रह्मांड के सम्राट् ईश्वर ने मनुष्य को सर्वगुण संपन्न उत्तराधिकारी राजकुमार बनाया। अपनी समस्त विभूतियाँ उसे बीजरूप में प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कीं। उसे सृष्टि संचालन में सहयोगी बन सकने के योग्य बनाया, फिर भी वह उस श्रेय से गौरव से वंचित क्यों रहता है ? ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र की जिज्ञासा मानव मात्र से संबंधित है। नित्य देखने में आता है ईश्वर का मुकुटमणि कहलाने वाला सुर दुर्लभ मानव योनि पाने वाला यह सौभाग्यशाली जीव अपने परम पिता से दो विशेष विभूतियाँ पाने के बावजूद दिग्भ्रांत हो दीन-हीन जैसा जीवन जीता है। ये दो विभूतियाँ हैं, बीज रूप में ईश्वर के समस्त गुण तथा सृष्टि को सुव्यवस्थित बनाने में उसकी ईश्वर के साथ साझेदार जैसी भूमिका। बीज फलता है तब वृक्ष का स्वरूप लेता है। इसका बहिरंग स्वरूप उसी जाति का होता है जिस जाति का वह स्वयं है। लघु से महान्, अणु से विभु बनने की महत् कार्य सामर्थ्य अपने आप में एक अलभ्य विरासत है। इसे पाने के लिए उसे न जाने कितनी योनियों में कष्ट भोगना पड़ा।

सहयोग, सहकार भी सुसंचालन के लिए न कि संतुलन

को बिगाड़ने के लिए। ऐसे में जब गुण, कर्म रूपी बीज भी गलने से इंकार कर दे एवं मानव संतुलन व्यवस्था के स्थान पर विग्रह असहयोग करने लगे तो असमंजस होना स्वाभाविक है।

सामर्थ्यन्यूनतायां तु साधनाभाव एव वा।

प्रतिकूलस्थितौ वापि नरस्त्वसफलो भवेत् ॥ ७ ॥

यत्रैतन्नास्ति तत्रापि सृष्टिरलं नरः कथम् ?

दैन्येन ग्लपितेनाथ जीवतीह घृणास्पदः ॥ ८ ॥

टीका—सामर्थ्य की न्यूनता, साधनों का अभाव, प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर तो सफल न हो सकने की बात समझ में आती है, किंतु जहाँ ऐसा कुछ भी न हो, वहाँ मनुष्य जैसा सृष्टि का मुकुटमणि हेयस्तर का जीवन क्यों जिँटूँ और क्यों घृणास्पद बनें ? ॥ ७-८ ॥

व्याख्या—यदि वह सब न होता जिससे मानव समृद्ध-संपन्न बन सका है तो मानव के उपरोक्त दो प्रयोजनों सृष्टि उत्पत्ति, सृष्टि संचालन में असफल रहने की बात स्वीकार्य भी होती, पर ऐसा तो कुछ है नहीं। इसके स्थान पर जन्म देने के बाद उसे तो साधन, सामर्थ्य एवं सहयोगकारी परिस्थितियों का अनुदान भी परम पिता ने उसे दिया है। फिर वह सदैव प्रतिकूलताओं का रोना क्यों रोता है ? यह ब्रह्मज्ञानी जिज्ञासु के लिए एक ऊहापोह बना हुआ है।

सत्ये युगे नराः सर्वे सुसंस्कृतसमुन्नतम्।

देवजीवनपद्धत्या जीवन्ति स्म, धरामिमाम् ॥ ९ ॥

स्वर्ग्येणैव तु दिव्येन वातावरणकेन ते।

भरितां विदधानाश्च विचरन्ति, कथं पुनः ? ॥ १० ॥

कारणं किं समुत्पन्नं पातगते यथाऽपतन्।

साम्प्रतिकीं स्थितिं दीनां गताः सर्वेयतो मुने ॥ ११ ॥

दुर्धर्षायां विपत्तौ तु विग्रहे वाप्युपस्थिते।

उत्पद्यते विवशता नैतदस्ति तु सांप्रतम् ॥ १२ ॥

सामान्यं दिनचर्यायाः क्रमश्चलति मानवाः।

शक्तिसाधनसंपन्नाः पातगते पतन्ति किम् ? ॥ १३ ॥

टीका—सतयुग में सभी मनुष्य समुन्नत और सुसंस्कृत स्तर का देव जीवन जीने थे और इस धरती को स्वर्ग जैसा दिव्य वातावरण से भरा-पूरा रखते थे। फिर क्या कारण हुआ, जिससे लोग पतन के गर्त में गिरे और आज जैसी दयनीय स्थिति में जा पहुँचे। कोई दुर्धर्ष-विपत्ति-विग्रह आने पर विवशता उत्पन्न हो सकती है, किन्तु सामान्य क्रम चलते रहने पर भी शक्ति साधनों से सम्पन्न मनुष्य अधःपतन के गर्त में क्यों गिरते जा रहे हैं ॥ ९-१३ ॥

व्याख्या—ऐसी बात नहीं कि जब से मनुष्य को यह जन्म मिला है-सृष्टि की उत्पत्ति व विकास हुआ है- वह हेय स्तर का ही जीवन जीता आया है। मानव सतयुग में सभ्य

सुसंस्कृत जीवन भी जी चुका है। श्रेष्ठता की उस ऊँचाई पर पहुँच कर फिर नीचे गिर पड़ना कहाँ तक उचित माना जायेगा? होना तो यह था कि आज स्थिति सतयुग से भी श्रेष्ठ स्तर की स्वर्गोपम होती। परन्तु ऋषि पाते हैं कि प्रस्तुत परिस्थितियाँ तो नारकीय स्थिति से भी गयी बीती हैं।

उच्चादर्शाय संसृष्टौ मानवो यदि जीवति।

तिरश्चां प्राणिनां हेयस्तरेण मनसा तथा ॥१४॥

अनात्माचरणं कुर्यात्सृष्टिसन्तुलनं तथा।

विकुर्याद् महादर्शय चिन्ताया विषयास्तथा ॥१५॥

टीका—उच्च प्रयोजनों के लिए सृजा गया मनुष्य तिर्यक् योनियों में रहने वाले प्राणियों से भी अधिक हेय स्तर की मनःस्थिति रखे, अनात्म आचरण करे और सृष्टि संतुलन बिगाड़े तो सचमुच ही यह बड़े आश्चर्य और चिन्ता की बात है ॥ १४-१५ ॥

व्याख्या—सोचा तो यह था कि मनुष्य अपने को श्रेष्ठता से जोड़े रहेगा, आज जीवधारियों के लिए एक आदर्श उदाहरण बनेगा पर स्थिति कुछ विचित्र एवं चिन्ताजनक भी है।

विवेक चूड़ामणि में यह स्पष्ट करते हुए कि मनुष्य भ्रष्ट आचरण की ओर कब प्रवृत्त होता है, संकेत करते हुए कहा गया है।

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेनबद्धाः।

कुङ्गमातंगपतंगमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्॥

अर्थात्—हरिण, हाथी, पतंगा, मछली और भौरा ये अपने-अपने स्वभाव के कारण शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से आसक्त होने के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो फिर इन पाँचों विषयों से जकड़ा हुआ, असंयमी पुरुष कैसे बच सकता है। उसकी तो दुर्गति सुनिश्चित ही है।

अन्य जीवधारियों के समान यदि मनुष्य भी शिशुनोदार परायण रहकर अपना आचरण व चिन्तन बिगाड़ ले तो फिर यह मानना चाहिए कि वह धरती पर इस योनि में अवतरित होकर भी दुर्भाग्यशाली ही बना रहा। आज मानव की उपभोग की ललक व सुख साधना अर्जित करने की एकांगी घुड़दौड़ ने यह भुला दिया कि इस तथाकथित प्रगति और सभ्यता का सृष्टि संतुलन पर क्या असर पड़ेगा। उच्छृंखल भौतिकवाद अनियंत्रित दानव की तरह अपने पालने वाले का ही भक्षण कर रहा है। पर्यावरण असंतुलन और अदृश्य जगत में संव्याप्त हाहाकार मानव की स्वयं की संरचना है जो आस्था संकट के रूप में प्रकट हुआ है और जिसकी प्रतिक्रिया विभिन्न विभीषिकाओं के रूप में मानव जाति को भुगतनी पड़ रही है। इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ऐसे उदाहरण पहले भी हुए हैं।

साश्चर्यस्यासमञ्जस्य कारणं किं भवेदहो।

न सामान्यधियामेतज्ज्ञातव्यं तु प्रतीयते ॥१६॥

हेतुना सरहस्येन भवितव्यमिह ध्रुवम्।

हेतुमेनं तु विज्ञातुमिच्छास्माकं प्रजायते ॥१७॥

महाप्राज्ञो भवाँस्तत्त्ववेत्ता कालत्रयस्य च।

द्रष्टाऽविज्ञातगुह्यानां ज्ञाता ग्रन्थिं विमोचय ॥१८॥

इदं ज्ञातुं वयं सर्वे त्वातुराश्च समुत्सुकाः।

अष्टावक्रस्य जिज्ञासां श्रुत्वा तु ब्रह्मज्ञानिनः ॥१९॥

महाप्राज्ञः पिप्पलादः गम्भीरं प्रश्नमन्वभूत्।

प्रशशंस च प्रश्नेऽस्मिन्नवदच्च ततः स्वयम् ॥२०॥

टीका—इस आश्चर्य भरे असमंजस का क्या कारण हो सकता है, यह सामान्य बुद्धि की समझ से बाहर की बात है। इसके पीछे कोई रहस्यमय कारण होना चाहिए। इस कारण को जानने की हम सबको बड़ी इच्छा है। आप महाप्राज्ञ हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, त्रिकालदर्शी हैं, अविज्ञात रहस्यों को समझने वाले हैं। कृपया इस गुत्थी को सुलझाइए। हम सब यह जानने के लिए आतुरतापूर्वक इच्छुक हैं। ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र जी की जिज्ञासा सुनकर महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने प्रश्न की गंभीरता अनुभव की। प्रश्न उभारने के लिए उन्हें सराहा और कहा ॥१६-२०॥

व्याख्या—यदि यह प्रकरण सामान्य चर्चा से सुलझने जैसा होता तो प्रज्ञासत्र में इस जिज्ञासा को उठाए जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह ऋषिकालीन परंपरा है कि ऐसे असाधारण मानवी गरिमा से जुड़े प्रश्नों पर तत्त्वज्ञान के मर्मज्ञ महाप्राज्ञों से समाधान पूछे जाते रहे हैं एवं तदनुसार अदृश्य सूक्ष्म जगत में वातावरण बनाया जाता रहा है। जनक एवं याज्ञवल्क्य तथा काशुभुंडि एवं गरुड संवाद भी इसी प्रयोजन से संपन्न हुए हैं। सूत शौनक संवाद के माध्यम से आर्ष ग्रंथकार ने कथोपकथन से अनेकानेक समस्याएँ उभारी व सुलझाई हैं।

पिप्पलाद उवाच

महाभाग न ते प्रश्नः केवलं दीपयत्यहो।

अध्यात्मतत्त्वज्ञानस्य सारतथ्यान्युतापि तु ॥२१॥

लोककल्याणकृच्छापि, श्रोष्यन्त्येनं तु ये जनाः।

सत्यं यास्यंति यास्यंति श्रेयो मार्गेऽविपत्तया ॥२२॥

भवंतः सर्व एतस्याः समस्यायास्तु कारणम्।

समाधानं च शृण्वंतु सावधानेन चेतसा ॥२३॥

टीका—हे महाभाग आपका प्रश्न न केवल अध्यात्म तत्त्वज्ञान के सार तथ्यों पर प्रकाश डालता है, वरन् लोक कल्याणकारी भी है। जो इस शंका समाधान को सुनेंगे, वे सभी सत्य को समझेंगे, विपत्ति से बचेंगे और श्रेय पथ पर चल सकने में समर्थ होंगे। आप सब लोग इस समस्या का कारण और समाधान ध्यानपूर्वक सुनें ॥ २१-२३ ॥

१.१४ प्रज्ञोपनिषद्

व्याख्या—महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रश्न की गंभीरता को अनुभव करते हुए कहते हैं कि ऐसी जिज्ञासा का समाधान हर सुनने वाले को सत्य का बोध कराता है। वस्तुतः सुनते तो अनेकों हैं पर वे अंदर तक उसमें प्रवेश कर उसे जीवन में कहाँ उतार पाते हैं। सुनने वाले जिज्ञासु वृत्ति के हों, जन कल्याण ही जिनका उद्देश्य हो, वे कथा श्रवण सार्थक कर देते हैं।

भगवान्निर्ममे नृ न्यछक्तिसौविध्य संयुतान्।

सुविधां तत्र स्वातंत्र्याच्चयनस्य च संददौ ॥ २४ ॥

दिशां धारां जीवनं च प्राप्तुं गतिविधिं तथा।

स्वतंत्रमकरोदन्ये प्राणिनः प्रकृतिं श्रिताः ॥ २५ ॥

टीका—भगवान् ने मनुष्य को जहाँ शक्ति और सुविधा से भरपूर बनाया वहाँ उसे एक विशेष सुविधा स्वतंत्र चयन करने की भी दी है। अपनी दिशाधारा, जीवनक्रम और गतिविधि अपनी इच्छानुसार अपनाने की छूट दी। अन्य सभी प्राणी तो प्रकृति का अनुसरण भर पाते हैं ॥ २४-२५ ॥

व्याख्या—मनुष्य शक्ति साधन संपन्न है, इतना कि जितने सृष्टि के अन्य प्राणी नहीं। शरीर बल तो उनके पास भी है पर बुद्धि कौशल तथा अपना मार्ग स्वयं चुनने की छूट ने उसे विशिष्ट विभूति संपन्न जीव बना दिया है। इस स्वतंत्र चयन में भी भगवान् भी कभी हस्तक्षेप नहीं करते।

अस्याः स्वतंत्रतायास्तुपयोगं कः कथं मुने।

करोति संमुखे सेयं परीक्षा पद्धतिः स्थिता ॥ २६ ॥

टीका—हे मुने इस स्वतंत्रता का कौन किस प्रकार उपयोग करता है, यही परीक्षा पद्धति हर मनुष्य के सामने है ॥ २६ ॥

व्याख्या—विधाता ने मनुष्य को विभूतियाँ तो दे दीं पर साथ ही यह अधिकार भी कि वह उनका जैसा चाहे वैसा उपयोग करे। पर यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस चयन की छूट का दुरुपयोग जो करता है वह दुर्गति को प्राप्त होता है। दूसरी ओर अपना लक्ष्य जानते हुए जो मानवोचित गरिमा का निर्वाह कर सुनिश्चित योजना बनाकर जीवन व्यतीत करते हैं, अपने कल्याण व परमार्थ को साथ जोड़ते हुए जीवन शकट खींचते हैं, वे सद्गति को प्राप्त होते हैं। यह एक चुनौती हर व्यक्ति के समक्ष है कि वह श्रेय पथ को स्वीकार करे अथवा प्रेय को।

विस्मरन्ति स्वरूपं ये त्यक्ता चोत्तरदायिता।

पतन्ति पातगर्ते ते, कर्मणा निश्चितं नराः ॥

टीका—जो आत्मस्वरूप को भूलते और उत्तरदायित्वों से विमुख होते हैं, वे पतन के गर्त में गिरते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या—आत्मगरिमा को हर कोई नहीं समझता। आत्मतत्त्व एक अंगारे के समान है जिस पर कषाय कल्मषों के आवरण चढ़े होते हैं। जो उन्हें हटाने का प्रयास करते हैं वे

उसकी चमक व ताप से परिचित प्रभावित होते हैं। बहुसंख्य ऐसे होते हैं जो अपने अंदर छिपी सामर्थ्य को पहचान नहीं पाते, जिम्मेदारी का निर्वाह न कर उलटे अपना पतन और कर लेते हैं। जिन्हें आत्मबोध हो जाता है वे अपना स्वरूप समझकर तदनुसार अपनी जीवन योजना का निर्धारण करते व कृतकृत्य होते हैं।

सदुपयुञ्जते ये तु सौभाग्यं प्रस्तुतं क्रमात्।

उदगच्छन्ति तथा यांति पूर्णतां लक्ष्यमां सदा ॥ २८ ॥

टीका—जो प्रस्तुत सौभाग्य का सदुपयोग करते हैं, वे क्रमशः अधिक ऊँचे उठते और पूर्णता के लक्ष्य तक जा पहुँचते हैं ॥ २८ ॥

व्याख्या—सामने आया समय बार-बार नहीं आता। मानव जीवन एक सौभाग्य है जो बार-बार नहीं मिलता। विडंबना यही है कि इसका सदुपयोग करने वाले कम ही होते हैं। जो जीवन का समुचित उपयोग करना जानते हैं वे क्रमिक गति से ऊँचे उठते हुए चरम ध्येय को अंततः प्राप्त करके ही रहते हैं।

प्रत्यक्षं देवता नूनं जीवनं यत्तु दृश्यते।

देवानुग्रहरूपं च ये तदाराधयन्ति तु ॥ २९ ॥

तेऽधिकाः प्राप्नुवन्त्युच्चा उपलब्धीः शनैः शनैः।

दुरुपयुञ्जते ये ते नरा निर्घन्ति स्वां गतिम् ॥ ३० ॥

आत्महंतार इव च दुर्गतिं प्राप्नुवन्ति ते।

नहि तान् कश्चिदन्योऽपि समुद्धर्तुं भवेत्प्रभुः ॥ ३१ ॥

टीका—जीवन प्रत्यक्ष देवता है, वह ईश्वरीय अनुकंपा का दृश्यमान स्वरूप है। जो उसकी आराधना करते हैं, उपलब्धियों का सदुपयोग करते हैं, उन्हें अधिकाधिक मात्रा में उच्चस्तरीय उपलब्धियाँ धीरे-धीरे मिलती जाती हैं। दुरुपयोग करने वाले अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारते हैं और आत्महत्याओं की तरह दुर्गति का दुःख भोगते हैं, उनका उद्धार कोई नहीं कर सकता है ॥ २९-३१ ॥

व्याख्या—जीवन को एक सहज उपहार मानकर चलने वाले उसके साथ खेलते ही हैं। यदि उसे देवता मानकर चला गया होता तो प्रभु की कृपा का ऐसा दुरुपयोग न होता। और देवताओं की तो मनुष्य अभ्यर्थना याचना अपनी कामना पूर्ति के लिए करते रहते हैं, पर कभी आत्मदेव पर ध्यान नहीं देते। जो सदुपयोग करना जानते हैं वे कभी उपलब्धियों से वंचित नहीं रहते, परंतु दूसरी ओर जो उसका दुरुपयोग करते हैं, वे उसका दंड भी भुगतते हैं। इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा है

मानुष जन्म अमोल है, होय न दूजी बार।

पक्का फल जो गिर पड़ा, लगे न दूजी बार ॥

पर इस अमोल मानुष काया का उपयोग कितने कर पाते

हैं यह विचारणीय है।

आत्मज्ञानं नरस्यास्ति गौरवं महदुन्मुखः।
यो दिशां तां प्रति, प्रैतिगतिमंतर्मुखीं स तु ॥ ३२ ॥
भूतं यश्च भविष्यच्च विचार्य वर्तते पुमान्।
आत्मावलंबी स याति द्रुतं प्रगतिपद्धतिं ॥ ३३ ॥
नात्र काठिन्यमाप्नोति ये त्यजंत्यवलंबनम्।
उपेक्षयात्महंतारो दुःखदारिद्र्यभागिनः ॥ ३४ ॥
पदे पदे तिरस्कारं सहंते यंत्रणा भृशम्।
नारक्यः प्राप्नुवन्त्येव न याति परमां गतिम् ॥ ३५ ॥

टीका—आत्मज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा गौरव है। जो उस दिशा में उन्मुख होता, अंतर्मुखी बनता, अपने भूत और भविष्य को ध्यान में रखते हुए वर्तमान का निर्धारण करता है वह आत्मावलंबी मनुष्य प्रगति पथ पर द्रुतगति से बढ़ चलता है। इसमें उसे फिर कोई कठिनाई शेष नहीं रहती। जो इस अवलंबन की उपेक्षा करते हैं, वे आत्महंता लोग दुःख-दारिद्र्य के भागी बनते हैं। पद-पद पर तिरस्कार सहते और नारकीय यंत्रणाएँ भुगतते हैं, साथ ही सद्गति को प्राप्त नहीं कर पाते ॥ ३३-३५ ॥

व्याख्या—मनुष्यों को औरों की अपेक्षा अधिक बुद्धि, विद्या, वैभव, बल, विवेक मिला है। यह बात तो समझ में आती है, किंतु इन शक्तियों का संपूर्ण उपयोग बाह्य जीवन तक ही सीमित रखने में उसने बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया। अर्जित कौशल एवं ज्ञान को उसने मात्र शारीरिक सुखोपभोग तक सीमित रखा है। सारे दुःखों का कारण भी यही है कि हम अपने शाश्वत स्वरूप आत्मतत्त्व को जानने का कभी प्रयास भी नहीं करते। अपने शरीर को भी नहीं पहचान पाए तो इस शरीर का, बौद्धिक शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा?

जो भी व्यक्ति आत्मतत्त्व का अवलंबन लेने के लिए अपने अंदर की गुफा में झाँकता है तो उसे अपार वैभव-संपदा सामग्री बिखरी दिखाई पड़ती है। आत्मावलंबन का ही चमत्कार है कि मनुष्य अपने विगत के घटनाक्रमों को दृष्टिगत रख भविष्य की योजना बनाता व वर्तमान का निर्धारण सफलतापूर्वक कर पाता है।

भौतिकीः सुविधाः प्रादान्मनुष्येभ्यः प्रभुः स्वयम्।
दिव्यानां च विभूतीनां निधिं वपुषि दत्तवान् ॥ ३६ ॥
किंतु कार्यमिदं तस्याधीनं च कृतवान् प्रभुः।
यद् विवेकयुतां बुद्धिं स्वतंत्रां परिदर्शयेत् ॥ ३७ ॥
उपयोगं साधनानां दुरुपयोगमथाश्रयन्।
सहभाक् स्वर्गधाराया नारक्याः वापि संभवेत् ॥ ३८ ॥

टीका—ईश्वर ने मनुष्य को भौतिक सुविधाओं का बाहुल्य प्रदान किया, भीतर दिव्य विभूतियों का भंडार भर दिया। पर इतना काम उसे ही सौंपा कि स्वतंत्र विवेक बुद्धि का परिचय

दे और साधनों का सदुपयोग या दुरुपयोग करके स्वर्ग या नरक की दिशाधारा का सहभागी बने ॥ ३६-३८ ॥

व्याख्या—मनुष्य में ये दो विशेषताएँ एक साथ पाई जाती हैं। (१) बाह्य जगत में प्रचुर मात्रा में उपभोग हेतु सुख-साधन, प्रतिकूल को भी अनुकूल बना सकने योग्य सामर्थ्य तथा (२) अंतःजगत में देवताओं को भी अप्राप्य आत्मिक संपदा जो उपयुक्त होने पर उसे ऋषि-देव मानव-महामानव स्तर का बनाती है। सृष्टि में अन्य ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं, जिसमें इन दोनों का समन्वय हो। उसे सृष्टा का पक्षपात नहीं कहेंगे, क्योंकि उसने इसके साथ एक उत्तरदायित्व उसी के ऊपर छोड़ दिया है कि वह अपनी विवेक शक्ति, दूरदर्शिता का उपयोग कर इन साधनों को किस सीमा तक, किस प्रयोजन में लगा पाता है? इस विवेकशक्ति का जागरण जिसमें जितनी मात्रा में हुआ समझना चाहिए वह उतना ही आध्यात्मिक होता चला गया। सदुपयोग ही स्वर्ग को ले जाने वाली तथा दुरुपयोग नरक की ओर ले जाने वाली पगडंडी है।

प्रगतिर्मानवानां या दुर्गतिर्वाऽपि दृश्यते।
तस्य संरचना स्वस्य तात! जानीहि निश्चितम् ॥ ३९ ॥
मानवः स्वस्य भाग्यस्य विधाता स्वयमेव हि।
तथ्यमेतद् विजानंति ये ते तु निजचिंतनम् ॥ ४० ॥
प्रयासं साधुभावाय योजयंति न ते पुनः।
पतनं पराभवं वापि सहंते न च यंत्रणाम् ॥ ४१ ॥

टीका—हे तात मनुष्य की जो भी प्रगति दुर्गति दृष्टिगोचर होती है, वह उसकी स्वयं की संरचना है, यह निश्चित समझो। मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप हैं जो इस तथ्य को समझते हैं, वे अपने चिंतन और प्रयास को सदाशयता के लिए नियोजित करते हैं। ऐसे लोगों में से किसी को भी पतन-पराभव की यंत्रणा नहीं सहनी पड़ती ॥ ३९-४० ॥

व्याख्या—आत्मज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि है यह बोध हो जाना कि हम अपने आप में सर्व-समर्थ शक्तिमान सत्ता हैं व अपना भविष्य स्वयं बना सकते हैं। सृष्टा का यही तो सबसे बड़ा अनुदान है। पुरुषार्थी आत्मबल संपन्न व्यक्ति कभी भाग्य के भरोसे बैठे नहीं रहते। इसीलिए वे हमेशा अपने चिंतन और प्रयासों को उत्कृष्टता से जोड़कर अपनी परिस्थितियाँ स्वयं विनिर्मित करते हैं। भाग्यवादी तो इसी प्रतीक्षा में अवसर गँवाते चले जाते हैं कि उपयुक्त परिस्थितियाँ हों व बिना श्रम-प्रयास के सब अनुकूल होता चला जाए। शास्त्रों में लिखा है

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥
चरैवेति, चरैवेति।

१.१६ प्रज्ञोपनिषद्

अर्थात् सोते रहना ही कलियुग है, जागरणोपरांत जँभाई लेना द्वापर है, उठ पड़ना ही त्रेता है, उठकर अपने लक्ष्य के लिए गतिशील हो जाना ही सतयुग है। अतएव लक्ष्य प्राप्ति के लिए चलते रहो, आगे बढ़ते रहो।

वयं यद् ब्रह्मतत्त्वस्य मुने! कुर्मोऽवगाहनम्।

न विवेच्यो विराट् तत्र परमेतदवेहि यत्॥ ४२॥

मानवानामंतराले सत्ता या विद्यते प्रभोः।

तस्या महन्महत्तां तु कथं ज्ञातुं क्षमा वयम्॥ ४३॥

कथं पश्याम एवं च कथं कुर्मस्तथात्मसात्।

प्रयोजनमिदं सर्वं ब्रह्मविद्यां प्रचक्षते॥ ४४॥

टीका—हे ऋषिश्रेष्ठ हम लोग जिस ब्रह्मतत्त्व का अवगाहन करते हैं, उसमें उद्देश्य विराट् की विवेचना नहीं, वरन् यह है कि मानवी अंतराल में विद्यमान ईश्वरीय सत्ता की महान महत्ता को किस प्रकार समझा जाए एवं उसे कैसे देखा, उभारा व अपनाया जाए। इस संपूर्ण प्रयोजन को ही ब्रह्मविद्या कहते हैं॥ ४२-४४॥

व्याख्या—महाप्राज्ञ पिप्पलाद विषय की गूढ़ता को देखते हुए उसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए ब्रह्मविद्या एवं विराट् विश्वपुरुष परब्रह्म की विवेचना में अंतर बताते हैं। सृष्टि का व्यापक विस्तार और उसमें संव्याप्त जड़-चेतन का सम्मिश्रित लीला जगत तो वह पक्ष हुआ जिसे विराट् के नाम से ऋषिवर ने संबोधित किया है। इसी तथ्य को ऋग्वेद में ऋषि ने समझाते हुए कहा है हे मनुष्यो बर्फ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं, दिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं, हम उस विराट् विश्वपुरुष परमात्मा को कभी नहीं भूलें॥ ४२-४४॥

व्याख्या—ब्रह्मविद्या वह विज्ञान है जिसके अंतर्गत परमपिता के अंशरूप में विद्यमान अपने अंदर अवस्थित सत्ता की महत्ता को समझा, उभारा एवं विकसित किया जाता है। उपासना ईश्वर के इसी रूप की, कि जाती है। पर ब्रह्म तो अचिंत्य अगोचर है, उसके क्रिया-कलापों को जड़ चेतन में गतिविधियों तथा सृष्टि विज्ञान के विभिन्न स्वरूपों में देखा जा सकता है पर जिस ईश्वर, परमात्मा, भगवान्, इष्ट की उपासना-साधना अभ्यर्थना करने की चर्चा की जाती है वह तो मनुष्य के अंदर ही बीज रूप में विद्यमान है। इसे पहचान कर, आच्छादित आवरणों को हटाकर जो विकसित कर लेता है वह महामानव देवदूत, ऋषि स्तर तक जा पहुँचता है। ऋद्धि-सिद्धियाँ इसी आत्मतत्त्व के अनुदान रूप में बरसती हैं कहीं बाहर से नहीं टपकतीं।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के मोक्ष संन्यासयोग विषयक अध्याय में इस गुह्यज्ञान को और भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया है। ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति इस

प्रकार कहते हुए भगवान् अर्जुन को समझाते हैं हे अर्जुन यत्र पर आरूढ़ हुए के समान सब भूतों को अपनी शक्ति से घुमाता हुआ ईश्वर सब जीवधारियों के हृदय में वास करता है। हे भरत पुत्र तू उसी ईश्वर की शरण में समर्पित हो जा। उसके प्रसाद से तुझे परमशांति और शाश्वत आनंद मिलेगा। यह गुह्य से गुह्यज्ञान मैंने तुझे कहा है, इस पर अच्छी तरह विचार कर।

मीरा, चैतन्य महाप्रभु, रैदास तथा कबीर आदि संतों महामानवों ने अपनी इसी ईश्वर को तो पूजा है। उनकी साधना उपासना अंतर्जगत में विराजमान ईश्वर की थी। प्रतीक उसका कुछ भी हो। ब्रह्मविद्या की साधना किस व्यक्ति को कितना ऊँचा उठा सकी यह इसी पर निर्भर करता है कि किसने आत्मतत्त्व को समझने का प्रयास किया व उसे विकसित किया।

सुविधासंपदा पूर्ण जगदेतत्तु भौतिकम्।

संपदिभरात्मिकं तृप्तिरुष्टिर्शांतिभिराप्नुतम्॥ ४५॥

सुविधाः साधनेष्वेव रमन्ते मंदबुद्धयः।

यथा क्रीडनकैर्बालास्तथा ते संति निश्चितम्॥ ४६॥

आध्यात्मिकस्य जगतः स्वर्ग्यां प्राप्तुं तु संपदाम्।

रुचिर्येषां महाभाग्या धन्यं तेषां हि जीवनम्॥ ४७॥

टीका—भौतिक जगत में सुविधा सामग्री भरी पड़ी है, तो आत्मिक क्षेत्र तृप्ति, तुष्टि और शांतिरूपी संपदा से संपन्न है। जो व्यक्ति सुविधा साधनों में रमते हैं, वे खिलौनों से खेलने वाले बालकों की तरह मंदबुद्धि हैं। जिन्हें आत्मिक जगत की स्वर्गीय संपदा को प्राप्त करने में रुचि है, उन्हें बड़भागी कहा जाना चाहिए, उन्हीं का मानव जीवन धन्य है॥ ४५-४७॥

व्याख्या—मनुष्य को बाह्यजगत में भौतिक उपलब्धियाँ मिली हैं जो अंतःजगत में चेतन शक्ति प्रवाह के रूप में आत्मिक संपदा भी। अज्ञानवश मनुष्य भौतिक उपलब्धियों को ही उन्नति सफलता का प्रतीक मान लेता है। मनुष्य शरीर बल, बुद्धि, धन, वैभव, यश, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा के क्षेत्र में भले ही हिमालय की तरह ऊँचा व सागर की तरह गहरा क्यों न हो, आत्म संपदा के अभाव में वह निम्न कोटि का ही जीवन जिएगा, सुख तो होंगे पर शांति न होगी, साधन तो होंगे पर तृप्ति न होगी।

भौतिक जगत की मृग-मरीचिका आत्मा की प्यास को कभी बुझा नहीं सकती। ऐसी बात नहीं कि जीवन में भौतिक पदार्थों का कोई मूल्य नहीं। निर्वाह हेतु कुछ सीमा तक वे आवश्यक तो हैं पर दिग्भ्रांत मनुष्य साधनों को ही साध्य मानकर उनमें भटक जाता है। वस्तुतः जीवन में दोनों का ही समुचित समन्वय करना पड़ता है। एक चित्रकार अपनी रचना में कला एवं सौंदर्य का समावेश कर ही उसे सर्वश्रेष्ठ

बना पाता है। भौतिक जगत यदि कला है तो आत्मिक जगत सौंदर्य। पहला पक्ष तो वहाँ तक जरूरी है जहाँ तक शरीर निर्वाह के लिए साधनों की आवश्यकता है। दूसरा पक्ष अपने आपको समग्र बनाने, आत्मिक उत्कर्ष द्वारा चरम लक्ष्य पाने के लिए आवश्यक है। जिन्हें आत्मिक जगत की संपदा को पाने में रुचि बढ़ती है वे ही धन्य होते हैं और शरीर की दृष्टि से तृप्ति, ज्ञान की दृष्टि से तुष्टि और आत्मा की दृष्टि से शांति का अमूल्य वैभव पाने में सफल होते हैं।

बहिर्मुखः जनाः सर्वे भ्रमजालेषु पाशिताः।

अंतर्मुखाश्च तथ्यज्ञा सत्यं श्रेयः श्रयंत्यलम् ॥ ४८ ॥

टीका—बहिर्मुखी भ्रम जंजालों में उलझते हैं। अंतर्मुखी तथ्यों को समझते सत्य को अपनाते और श्रेय को पाते हैं ॥ ४८ ॥

व्याख्या—जैसा कि पहले ऋषि श्रेष्ठ ने स्पष्ट किया है भौतिक जगत और आत्मिक जगत दोनों ही क्षेत्रों में समुचित समन्वय स्थापित कर मनुष्य आत्मोत्थान का पथ प्रशस्त कर सकता है। परंतु ऐसे व्यक्ति जो बाह्य आकर्षणों से विरत हो अपने आपको आत्मिक पुरुषार्थ में नियोजित कर दें, कम ही होते हैं। इसी आधार पर वे बहिर्मुखी और अंतर्मुखी दो समूहों में जन समुदाय को विभाजित करते हैं। पहले भटकते हैं, दूसरे राह खोजते हैं व अनेकों को दिखाते हैं। एक संत ने इनकी बड़ी सुंदर व्याख्या प्रस्तुत उपाख्यान में की है।

अंतर्जगत उत्थानं पर्यवेक्षणमेव च।

आत्मविज्ञानमस्त्यस्मिन्पलब्धिर्यथा-यथा ॥ ४९ ॥

यस्य तत्कमतोगृह्णानृषीणां भूमिकामपि।

देवदूतावताराणां महामानवरूपिणाम् ॥ ५० ॥

सफलं मानवं जन्म स्वं करोति तथा च सः।

कल्याणमार्गं जगतः प्रशास्ति च महामुने ॥ ५१ ॥

टीका—अंतर्जगत का पर्यवेक्षण और अभ्युत्थान ही आत्मविज्ञान है। जिसे यह उपलब्धि जितनी मिल सकी, वह उसी क्रम में महामानवों, ऋषियों, देवदूतों और अवतारियों की भूमिका निभाते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करता है तथा जगत् के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करता है ॥ ४९-५१ ॥

व्याख्या—आत्मविवेचन ऋषि प्रणीत विद्या है। अपने अंदर झाँककर आत्म निरीक्षण, विश्लेषण तथा तदुपरांत विकास का पथ खोज लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। मात्र निरीक्षण ही काफी नहीं, उस क्षेत्र में आगे कैसे बढ़ा जाए? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। हममें से अधिकांश ऐसे हैं जो बहिरंग तक ही उलझे रहते हैं कभी अंदर झाँकते भी नहीं।

जिज्ञासायाः समाधानं त्वेकमेवास्ति तात यत्।

स्वतंत्रो मानवः स्वस्यां प्रगतौ दुर्गतौ भृशम् ॥ ५२ ॥

वृत्वा स्वयमनौचित्यमात्मने स विषद्रुमम्।

स्थिरयत्यात्मनो यस्य गौरवे विपुला रुचिः ॥ ५३ ॥

आत्मनिर्माणरूपे यः पुरुषार्थे रतस्तथा।

सन्मार्गे साहसं गन्तुं तस्य पातो न संभवः ॥ ५४ ॥

टीका—हे तात आपकी जिज्ञासा का समाधान एक ही है कि मनुष्य को अपनी प्रगति और दुर्गति की पूरी छूट मिली है। अनौचित्य का वरण करके वह अपने लिए स्वयं ही विष वृक्ष रोपता है। जिसे आत्मगौरव का चाव है, जो आत्मनिर्माण रूपी पुरुषार्थ में रत रहता है, जिसमें सन्मार्ग पर चलने का साहस है, उसका कभी पतन-पराभव नहीं होता ॥ ५२-५४ ॥

व्याख्या—जिसे वास्तव में आत्मगरिमा के प्रति रुझान होता है, वही सत्साहस अपनाता है और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ पाता है। यह छूट पूरी तरह से ईश्वर की ओर से मिली है कि मनुष्य किस मार्ग पर चले। अपना पतन रोकना अपने ही बस की बात है। वरण जिसने जो किया वह वैसा ही बन गया।

आत्मगरिमा के श्रेयाधिकारी किन्हीं भी परिस्थितियों में अपनी आंतरिक महानता भूलती नहीं। वह प्रवाह सहज ही उन्हें उत्कृष्टता की ओर खींच ले जाता है।

सामान्यास्तु जनाः सर्वे गृह्णन्ते दूरदर्शिताम्।

विवेकं संत्यजंतश्चाकर्षणेषु भ्रमद्विषः ॥ ५५ ॥

कुमार्गगामिनो भूत्वा दुरूहां दुःखसंततिम्।

सहंते, मौढ्यामायया यदि मोक्तुं समे तु ते ॥ ५६ ॥

आत्मावलंबिनां यादृक् साहसं तु विवेकिनाम्।

लभ्येरंस्तेऽपि कुत्रापि ता विपत्तिं विभीषिकाः ॥ ५७ ॥

द्रष्टुं नैव तु शक्ष्यामो दृष्टा मग्नास्तु यत्र ते।

समाप्तिं नरकस्यायं हाहाकारो गमिष्यति ॥ ५८ ॥

टीका—सामान्य जन अदूरदर्शिता अपनाते, विवेक को छोड़ आकर्षणों में भटकते हैं। कुमार्गगामी बनकर दुरूह दुःख सहते हैं, यदि उन्हें इस मूढ़ता की माया से छूटने का और विवेकवान आत्मावलंबियों जैसा साहस मिल सके तो कहीं भी उन विपत्ति-विभीषिकाओं के दर्शन न हों जिनमें वे बुरी तरह धँसे-फँसे दृष्टिगोचर होते हैं, साथ ही नारकीय वातावरण का यह हाहाकार समाप्त हो जाए ॥ ५५-५८ ॥

व्याख्या—विवेक का आश्रय छोड़ना सबसे बड़ी भूल है। बौद्धिक परावलंबन व्यक्ति को सामयिक आकर्षणों में ही रस ढूँढ़ने आनंद खोजने को विवश करता है, जबकि दूरगामी परिणामों की उसे कभी कल्पना भी नहीं होती।

महामनीषिणस्तत्त्वज्ञानिन एतदेव हि।

आत्मतत्त्वं तु विज्ञातुमुद्बोद्धुं चास्य मूर्च्छनाम् ॥ ५९ ॥

प्रौढं परिष्कृतं कर्तुं भजन्ते योग-साधनाम्।

तपस्यायां रता हेमनः परिष्कार इवास्ति-यत् ॥ ६० ॥

टीका—तत्त्वज्ञानी महामनीषी इसी आत्मतत्त्व को समझने,

१.१८ प्रज्ञोपनिषद्

उसकी मूर्च्छना जगाने और उसे प्रौढ़ परिष्कृत करने के लिए योग-साधना करते और तपश्चर्या में निरत होते हैं। यह कार्य स्वर्ण को परिष्कृत करने जैसा है ॥ ५९-६० ॥

व्याख्या—चूँकि जन समुदाय मूढ़ता की माया से छूट नहीं पाता, प्रसुप्त स्थिति में पड़ा जीवन शकट खींचता रहता है, तत्त्वदर्शीगण उन्हें आत्मतत्त्व की गरिमा जानने का मार्ग बताते हैं। सोये को जगा लेना सबसे बड़ी उपलब्धि है। मात्र जागना ही काफी नहीं, साधना पुरुषार्थ भी किया जाना जरूरी है और शोधन हेतु तपश्चर्या भी। इससे कम में उन्हें कुसंस्कारों से मुक्ति पाना संभव नहीं, जो कुहासे के रूप में, काली घटाओं के रूप में आत्मतत्त्व पर छाए रहते हैं।

पात्रताया विकासोऽयं ह्यनेकानेक संपदाम्।

उपलब्धेर्विभूतीनां पंथाश्च केवलः स्मृतः ॥ ६१ ॥

टीका—पात्रता का विकास ही अनेकानेक विभूतियों और संपदाओं की उपलब्धि का एकमात्र मार्ग है ॥ ६१ ॥

व्याख्या—आत्मतत्त्व को जगाने व तप पुरुषार्थ को करने के अतिरिक्त भी एक और पक्ष ऐसा रह जाता है जिसे छुए बिना आत्मिक संपदा प्राप्त नहीं होती। पात्रता वह पारस है जो अनगढ़ सी धातु को स्वर्ण बना देती है। इसी के बदले दैवी अनुग्रह बरसता है बिना माँगे मिलता है।

भौतिक क्षेत्र की तुलना में अध्यात्म के प्रतिफल कई गुने अधिक महत्त्वपूर्ण सामर्थ्यवान और चमत्कारी हैं। किन्हीं-किन्हीं महापुरुषों में उन चमत्कारी विशेषताओं को देख एवं सुनकर हर व्यक्ति के मुँह में पानी भर आता है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए मन ललचाता है, पर अभीष्ट स्तर का आत्मिक पुरुषार्थ न कर पाने के कारण उस ललक की आपूर्ति नहीं हो पाती। पात्रता के अभाव में अधिकांश को दिव्य आध्यात्मिक विभूतियों से वंचित रह जाना पड़ता है जबकि पात्रता विकसित हो जाने पर बिन माँगे ही वे साधक पर बसरती हैं। उन्हें किसी प्रकार का अनुनय-विनय नहीं करना पड़ता है। दैवी शक्तियाँ परीक्षा तो लेती हैं, पर पात्रता की कसौटी पर खरा सिद्ध होने वालों को मुक्तहस्त से अनुदान भी देती हैं। मिलता उन्हें ही है जो लौकिक कामनाओं, ऐषणाओं से मुक्त हैं, निस्पृह और उदार हैं।

आत्मनिरीक्षणं चात्मनिर्माणः सर्वतो महान्।

पुरुषार्थो मतो नास्ति साधना याचनाऽथ च ॥ ६२ ॥

परावलंबनं नैव विद्यते विद्धि तामतः।

आत्मनस्तु परिष्कारस्याधारः सुनियोजितः ॥ ६३ ॥

टीका—आत्म निरीक्षण और आत्म निर्माण ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। साधना न तो परवलंबन है, न याचना। उसे आत्म परिष्कार का सुनियोजित आधार ही माना गया है ॥ ६२-६३ ॥

व्याख्या—इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवन कल्पवृक्ष की तरह असंख्यों सत्परिणामों से भरा पूरा है। पर उसका लाभ तभी मिलता है, जब उसे ठीक तरह साधा, सँभाला जाए। जीवन क्षेत्र को सुव्यवस्थित बनाने के लिए किए गए पुरुषार्थ को ही साधना कहते हैं। अपने अंदर की वृत्तियों का निरीक्षण उन पर नियंत्रण तथा सत्प्रवृत्तियों को उनका अंग बना लेने से ही व्यक्तित्व निर्माण का प्रयोजन सधता है।

आत्मनस्तु विकास यः कर्तुं शक्तः स एव हि।

सुसंस्कृतश्च सफलस्तथ्यस्यास्य महामुने ॥ ६४ ॥

प्रत्यक्षायै क्रियन्तेऽनुभूत्यै च साधनात्मकाः।

पराक्रमा वयं नैवमृषयो हे मनीषिणः ॥ ६५ ॥

अध्यात्मा मृतपानस्य सीमि बद्धा भवेम तु।

उपलब्धिभिरैताभिर्बोद्ध्याः सर्वे जना सदा ॥ ६६ ॥

जिज्ञासानां न चैवासां संभवेदनिवार्यता।

समर्थो ना कथं दीनहीनवद् विविधा इमाः ॥ ६७ ॥

यातनाः पतनस्याथ पराभूतेश्च संततिम्।

सहते पातगर्ताच्च बहिरेतुं न हि क्षमः ॥ ६८ ॥

टीका—हे महर्षे जो आत्म विकास कर सका, वही सफल सुसंस्कृत बनता है। इस तथ्य की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए ही साधनात्मक पराक्रम किए जाते हैं। हे ऋषि मनीषियो हम सब इस अध्यात्म अमृत का पान कराने तक ही सीमित न रहें, वरन् अपनी उपलब्धियों से जन-जन को अवगत कराएँ। इस स्थिति में ऐसी जिज्ञासा की आवश्यकता ही न पड़े कि समर्थ मनुष्य दीन हीनों की तरह विविध पतन-पराभव की यातनाएँ क्यों सहता है, पतन के गर्त से बाहर क्यों नहीं निकल पाता ॥ ६४-६८ ॥

व्याख्या—साधना एक पराक्रम है, संघर्ष है जो अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करना होता है। जो इस संग्राम में जितना सफल होता है वह उतना ही बहिरंग में सुसंस्कृत एवं अंतरंग की दृष्टि से महान बनता चला जाता है।

साधना में सभ्यता और संस्कृति दोनों का ही समावेश रहता है। इसमें संस्कृति को उद्गम और सभ्यता को प्रवाह कहा गया है। संस्कृति विचारणा, मान्यता, आस्था, निष्ठा में उत्कृष्टता के समावेश को कहते हैं। इसी पृष्ठभूमि की प्रेरणा से गतिविधियों का निर्धारण संभव होता है। शालीनता की पक्षधर जीवनचर्या को सभ्यता कहते हैं सभ्य बन सकना उसी के लिए संभव है जो सुसंस्कृत हो। संस्कृति मनःस्थान में उगाई और बढ़ाई जाती है। सभ्यता अपनाने के लिए शरीर को सधाया जाता है। जंगली जानवरों को सरकस में कलाकारिता दिखाने के लिए जिस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है उसी प्रकार साधनात्मक अनुशासन में जकड़कर अनगढ़ मनुष्य को सुगढ़, सुसंस्कृत बनाया जाता है। इसी प्रयास को सभ्यता

संवर्द्धन कहते हैं।

यथार्थज्ञानसंयुक्तं श्रुत्वा तु प्रतिपादनम्।
 आरण्यकस्थिताः सर्वे तुष्टास्ते तु महर्षयः ॥ ६९ ॥
 समाधानं च लब्धुं तत्सन्दर्भेऽधिकं ततः।
 ज्ञातुमन्या च जिज्ञासा प्रचंडावेगतोऽवहत् ॥ ७० ॥
 आरण्यकस्थिताः सर्व ऋषयो ये मनीषिणः।
 सन्दर्भे प्रष्टुमन्यच्च यद्यप्यासन् समुत्सुकाः ॥ ७१ ॥
 सायंकाले समायाते संध्यावंदन कर्म च।
 सम्मुखे प्रस्तुतं, सत्रं समाप्तं दैनिकं ततः ॥ ७२ ॥
 महाप्राज्ञः पिप्पलादो जगाद हे महर्षयः।
 भवंतोऽधिकमुत्सुकाज्ञा तुं प्रत्यक्षमस्ति हि ॥ ७३ ॥
 सत्रमद्यतनं यातु विश्रमं श्वः पुनश्चलेत्।
 समाधास्याम्यलं ज्ञानसत्रे जिज्ञासितं भृशम् ॥ ७४ ॥
 उत्थितास्ते प्रसन्नायां मुद्रायां तु महर्षयः।
 नत्वा तं तु महाप्राज्ञं परस्परमथापि च ॥ ७५ ॥
 ऋषयो दैनिकं कर्तुं साधनाकृत्यमुत्थिताः।
 द्वितीयेऽह्नि ततोऽप्युग्राजातोत्कंठा तु बोधितुम् ॥ ७६ ॥
 चलतां हृदये तेषां सर्वेषामेव या भृशम्।
 झंझावात महावेग विजृंभण पराऽभवत् ॥ ७७ ॥

टीका—इस यथार्थता से भरे प्रतिपादन को सुनकर आरण्यक में उपस्थित ऋषियों को संतोष भी हुआ और समाधान भी मिला। पर साथ ही इस संदर्भ में अधिक जानने की दूसरी जिज्ञासा और भी प्रचंड वेग से उठ पड़ी। आरण्यक में उपस्थित ऋषि-मनीषी इस संदर्भ में और कुछ पूछना

चाहते थे, पर सायंकाल हो जाने और संध्या वंदन का अनिवार्य नित्य नियम सामने होने के कारण उस दिन का सत्र समाप्त कर दिया गया। महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा, मनीषियों आप लोग इस संबंध में अधिक जानना चाहते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। आप लोग आज के सत्संग को विराम दें। कल पुनः यह ज्ञानसत्र चलेगा, तब आपकी अन्य जिज्ञासाओं का विस्तारपूर्वक समाधान करेंगे। सभी प्रसन्न मुद्रा में उठे। महाप्राज्ञ को अभिवंदन और नमन करके ऋषिगण अपने नियमित साधना कृत्य के लिए चले गए। दूसरे दिन और भी अधिक जानने की प्रबल उत्कंठा चलते-चलाते उन सबके मन में आँधी-तूफान जैसी मचल रही थी ॥ ६९-७० ॥

व्याख्या—अध्यात्म दर्शन संबंधी प्रस्तुत समाधान जिस रोचक शैली में महाप्राज्ञ द्वारा किया गया उससे ऋषि समुदाय को न केवल अपने इस ज्ञान सत्र के प्रथम दिन में उपस्थिति से संतोष व तृप्ति मिली, वहाँ इसी विषय से संबंधित अन्य कई प्रश्न भी अंदर जन्म लेने लगे। परंतु जैसा कि आश्रम व्यवस्थानुसार गायत्री महाप्रज्ञा की संध्या उपासना का समय आ चुका था, इस समागम को विराम दे दिया गया। एक ओर जिज्ञासा, दूसरी ओर अध्यात्मज्ञान के व्यावहारिक पक्ष नित्य कर्म की अनिवार्यता को दृष्टिगत रख महाप्राज्ञ ने उन्हें अगले दिन इसी विषय के विस्तार में जाकर पुनः मंथन-परामर्श का क्रम चलाने का आश्वासन दिया व सभी ऋषिगण उल्लास भरे वातावरण में परस्पर नमन कर विसर्जित हो गए।

इति श्री मत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री पिप्पलाद-अष्टावक्र ऋषि-संवादे अध्यात्मदर्शन इति प्रकरणो नाम

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥